कब कहलीं हम

(भोजपुरी कविता)

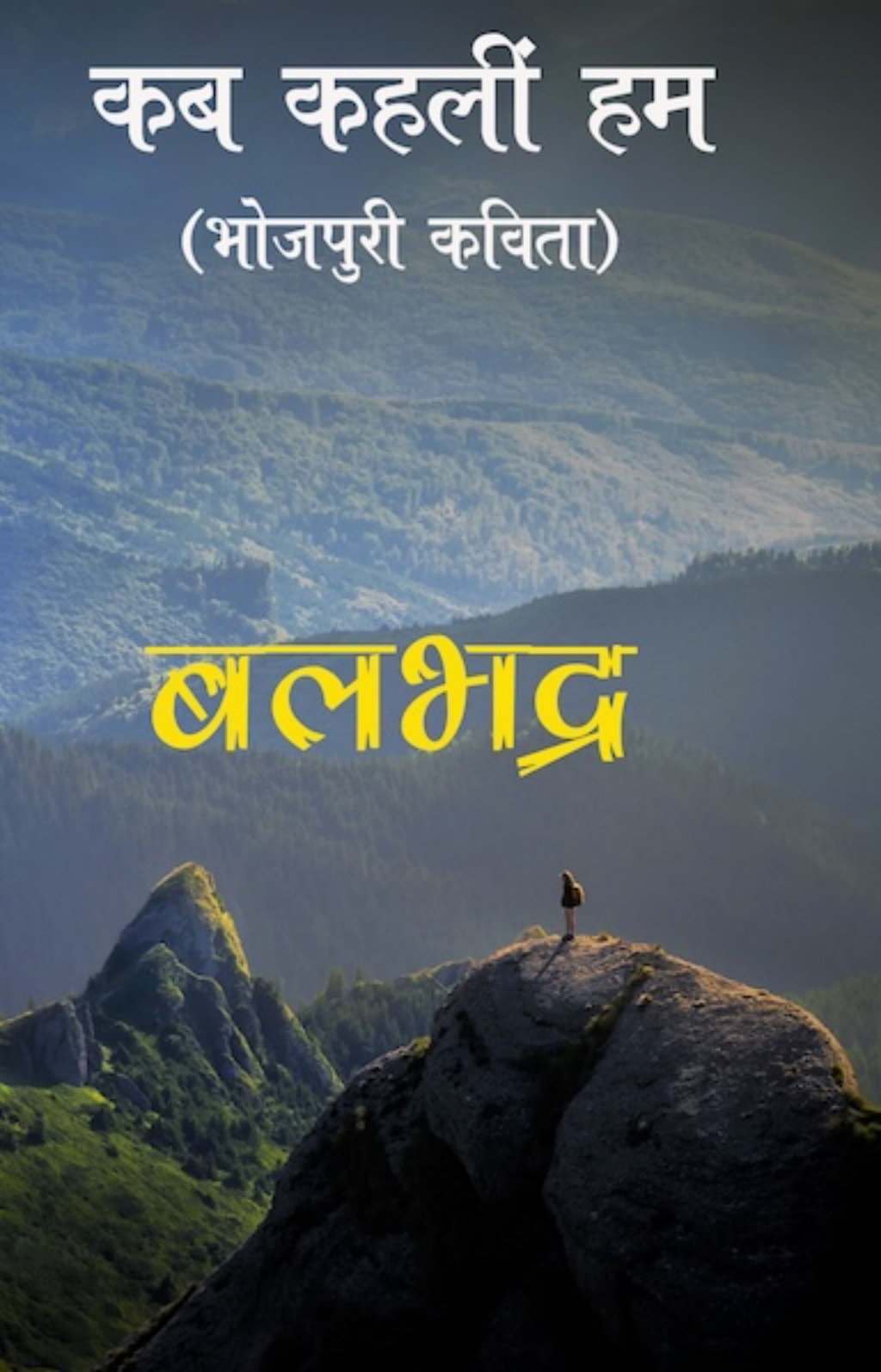

बलभद्र

कब कहलीं हम

(भोजपुरी कविता)

बलभद्र

माई के
बाबू के
आ जनकवि रमाकांत द्विवेदी 'रमता'
के स्मृति के समर्पित

कविता का जो कहना

बेशक बहुत देर से बलभद्र की यह कविता-किताब आई, लेकिन यह देर बलभद्र की कविताओं के तुक में है और तुक, मानना चाहिए कि कवि-कर्म की जरूरी जरूरतों में से एक है। एक तो बलभद्र कवि ही देर से हुए, लगभग तब जब उनके समकालीनों और उनसे कमकालीनों में से भी कई अपनी सबसे अच्छी कविताएँ, और उन कविताओं के इर्द-गिर्द वाली कविताएँ भी, लिखकर लगभग फारिग हो चुके थे। दूसरे, अपने कवि होने को बलभद्र बहुत देर से जान पाए और उसके बाद भी उसे वे बहुत देर तक, बहुत दूर तक नई-से-नई और पुरानी-से-पुरानी कविताओं को पसंद और बेशक, नापसंद करने में भी, पसंदगी और नापसंदगी के सूत्रों और सलीकों को समझने और सीखने में भी लगाए रहे। इस समझने-सीखने के लिए जो पूँजी थी उनके पास, वह किताबी कम थी, माँ और माँ के आस-पास से सुने लोकगीतों और कथाओं के रूप में अगाध थी। अबाध थी, वंचितों के तरफदार संघर्ष में सक्रिय हिस्सेदारी के रूप में। इस हिस्सेदारी में साहित्य की जो हिस्सेदारी हुआ करती है, बलभद्र की साहित्यिक समझ उस हिस्सेदार साहित्य का हिस्सा बनकर बनी है, उनका कविकर्म उससे प्रभावित प्रारंभ और प्रभान्वित परिणाम के रूप में सामने आया है। इसका एक नतीजा यह भी है कि कविता में व्यंर्थ को बरतने के मामले में वे इतने असमर्थ किस्म के कवि होते चले गए हैं कि कविता उनके लिए

निरन्तर एक मुश्किल विधा होती गई है और उनके कवित्व के काफी कुछ को इस मुश्किल से मुठभेड़ के मद में भी खर्च होना पड़ा है, पड़ता रहता है। ऐसा इसलिए भी कि हिन्दी हो या भोजपुरी—कविता के बलभद्र प्रबल पाठक हैं। कहानी के पाठक तो वे इतने हैं कि कहानीकार नहीं हैं। कवि वे फिर भी हैं तो इसलिए कि गद्य का जो गाँव है उनके पास उसे तो उनके निबंधों में, उनके काव्यालोचन, कथालोचन में ठिकाना मिल जाता है, गँवईपन की जो लय है लेकिन, उसके लिए कविता चाहिए-ही-चाहिए। अपनी कविता। लेकिन, उनकी अपनी कविता को घेरकर खड़ी उनकी प्रिय कविताओं की एक जो पूरी पलटन है उनके पास, उसके बीच से अपनी वाली को निकाल पाना उस मिहनत, उस मशक्कत से ही हो पाने वाला ठहरा जिसे बलभद्र ने अपने मूलतः खेतिहर परिवार से विरासत में पाया है। कविता के मामले में जिसे प्रतिभा कहते हैं, बलभद्र के मामले में वह उनकी मिहनत की कमाई है। इस संकलन में माँ को या पिता को या काका को या बाबा को या ईया को या अपने गाँव-घर के रामकिसुन को या रामकिसुन बो को बतियाती जो कविताएँ हैं वे यह भी बताती हैं कि कहाँ-कहाँ से और किस-किस की कैसी-कैसी प्रतिभाओं को बलभद्र ने अपनी काव्य-प्रतिभा में परिणत किया है। कौन कहेगा कि यह जल्दी निपट जाने वाली कोटि का काम था, या है। इसलिए भी कि बलभद्र का कवि-कर्म उनके अकेले का नहीं रहा है। एक-एक कविता को देर-देर तक लिखते रहने के बावजूद अपनी कविता के कविता होने पर अकेले और एकबारगी उन्होंने कभी यकीन नहीं किया। इस यकीन को अक्सर उन्होंने एक समूह-कर्म के रूप में सम्पन्न किया है और उस समूह में बेशक साहित्य पढ़ने-पढ़ाने वाले भी शामिल रहे हैं लेकिन साहित्य पढ़ने-पढ़ाने वाले ही शामिल नहीं रहे हैं। बलभद्र की कविता उन सबके जाने-अजाने उन सबकी हुआ करती है।

तो, जो देर हुई और हुआ करेगी, किसी भी मायने में, किसी भी मामले में, मामला चाहे नौकरी मिलने का ही क्यों न हो– बलभद्र के कवि-कर्म से वह मुकम्मल तुकबंद है, वैसे ही जैसे उनका कवि-कर्म उनकी जीवन-चर्या से। इस जीवन-चर्या में वे एक गँवई मनई हैं, जिसका मतलब है अपने आस-पास से

मतलब रखने वाला मनई; खेतिहर हैं, माने अकाज-सुकाज से सचेत, न सिर्फ मेहनती बल्कि मेहनत का मानी भी, क्योंकि वही है एक जो अपनी मेहनत के फल पर केवल और केवल अपने हक का हठ नहीं रखता; और वे 'राजनीति बूझे आ बुझावे के परी' (रमता जी) के प्रति प्रतिश्रुत साहित्य के एक विद्यार्थी हैं, अध्यापक हैं, वगैरह-वगैरह हैं, और जैसे यह सब हैं वैसे ही कवि भी हैं, अलग से कवि नहीं हैं। ऐसा नहीं कि जो पति होने से भागकर कवि हैं, पिता होने से भागकर कवि हैं, कवि होने के लिए पुत्र होने से जो हट आए हैं वे कवि नहीं हैं, हैं, होंगे ही; बस इतना ही कि वैसे कवि बलभद्र नहीं हैं। वे पिता थोड़े ज्यादा और कवि थोड़े कम या कवि थोड़े ज्यादा और पिता थोड़े कम वाले कवि भी नहीं हैं। अचरज नहीं अगर उनके पिता होने की जो खामियाँ हैं, खासियतें हैं, वही उनके कवि होने की भी हों। कवि लगने के लिए, और कवि नहीं लगने के लिए भी, अलग से उन्हें कुछ नहीं करना होता। कवि होने के लिए अलबत्ता करना पड़ता है। बहुतों की कलम से जैसे कविता उतर आती है, बलभद्र की कलम से नहीं उतर आती, अवतरित नहीं हो जाती। उसे उन्हें उतारना पड़ता है। और बहुत श्रम से उसे वे सुतारते हैं। कोई चाहे तो इसे बलभद्र की बड़ाई में मत माने, लेकिन यह तो माने ही कि ऐसी ही कुछ बेबड़ाई की बातों के नाते वे मूलतः और मुख्यतः भोजपुरी के कवि हैं और इन्हीं के नाते भोजपुरी के कवि होने की जो प्रचलित-नवप्रचलित प्रथा है, उसे-उससे बहुत कुछ हट-पलट कर भी भोजपुरी के कवि हैं।

शुरुआत बलभद्र ने गीतों से की और कई गीतों की तो सिर्फ शुरुआत ही की, जैसे इसकी– 'कतना कमाईं कतना कम खाईं हो, जिनिगी लागे जेमें पार'...। इस मुखड़े को आज तक अपने अन्तरे नहीं मिले, लेकिन यह भी तो है कि पार लगे 'जिनिगी' तब तो मिलें अन्तरे! अन्तरे तो जैसे कवि के, कैसे नहीं कहें कि हमारे भी, दैनन्दिन में गुँथ गए हैं। भोजपुरी के प्रसिद्ध कवि आनन्द संधिदूत की एक कविता-पंक्ति है– 'एक दुख हरऽ त बताईं अउरी'...। इस नहीं बताए जा सके 'अउरी' के ही कहीं आस-पास बलभद्र के इस गीत के अब तक नहीं आ सके अन्तरे भी होंगे और जब तक हर नहीं लिया जाता वह एक दुख तब तक उस 'अउरी' की, जब तक तय नहीं हो जाता कि कितना

कमाएँ कितना कम खाएँ तब तक इस गीत के अन्तरों की आमद नहीं होनी और तब तक कौन कहे कि यह गीत का मुखड़ा मात्र है, आम आदमी की 'जिनिगी' का मुकम्मल दुखड़ा नहीं है। यों ही तो नहीं यह शिवनारायणी की धुन धरे है। भोजपुरी लोक की जाने कितनी भूली-बिसरी धुनों के रूप में बलभद्र की स्वर्गीया माँ बलभद्र को छोड़कर कहीं नहीं गईं, कभी नहीं गईं। न सिर्फ धुनें बल्कि नेह-नातों के, राग-विराग के, सुख-दुख के, संघर्ष-समझौतों के, सूझ-समझ के, भाव-भरोसे के जिन धागों से वे धुनें बुनी गई हैं उनसे भी बलभद्र की पूरी जान-पहचान है और उन्हें उनके कंठ-स्वर में साफ सुना जा सकता है। इस तरह भोजपुरी कविता की बुनियादी जो शर्त है वह बलभद्र की तरफ से अनायास पूरी है। वाजिब है कि उनकी शुरुआत गीतों से हुई और इस कविता-किताब की अपनी शुरुआत भी उन्हीं से है यह मुनासिब है। इनमें से कुछ, जिनमें खालिस लोकधुनों का इस्तेमाल है, यही नहीं केवल कि उनका कहन आज के लोक का है, यह भी कि उन धुनों ने स्वयं को लोक की सुदीर्घ परम्परा में जिस ताल, जिस तेवर में अरजा-सिरजा है उसे भरसक रिसने नहीं दिया गया है। अनायास नहीं है कि गाने में आने लायक है, आ जाने लायक, तो बलभद्र उसके साथ ही पाठ को भी पटाए रखने, पढ़ने में भी खटकने न देने की काव्य-सिद्धि के प्रदर्शन से अपने लोकधुनधारे गीतों को वंचित नहीं, प्रायः बचाए रखते हैं। उन्हें गाइए ही, पढ़िए मत और गाइए गीत को सुधारते हुए नहीं, स्वर को साधते हुए– इस लोक-मन का मान रखते हैं बलभद्र। इस लिहाज से 'घरी छने आवे जे बिजुरिया'– इस सोहर के साथ चलेंगे तो पाएँगे कि एक और मामले में इस तरह के लोकमन-मान को वे तवज्जो देते हैं। कहते हैं, सोहर में पीर की पराकाष्ठा भी हो तो एक स्वर सोहन (शोभन) जरूर होना चाहिए। इस सोहर में बलभद्र ने गाँव में बिजली के आने-जाने की लीला की एक झाँकी रखी है। बिजली आई, गोद का बालक 'छँउकि' कर गोद से उतरा, इस हुलास का दूसरा पग रख भी नहीं पाया कि बिजली गई। इस बालक का पिता बिजली के आते ही खेत की तरफ लपका, पानी खेत तक पहुँचा भी नहीं कि बिजली गई...। अब, बिजली के आने के पहले जो अनमना-सा था बालक, उसके आकर चले जाने के बाद आँसुओं में है और पहले का उदास

किसान-पिता अब हताशा में है– 'आरी-ओरी बबुआ के बाबू त काहे माथे हाथ धरे हो'। तो सोहन-स्वर का क्या हुआ? वह इस 'काहे' से शुरू होकर इस भरोसे के साथ है– 'रामा जाँगर फुलेला तोहरे हाथ त गँउआ गोहार करे हो...'।

महत्वपूर्ण है कि बलभद्र को जगह-जगह जंजीर खींचकर रेलयात्रा के अनुभव को नारकीय बना देने वाली हालत में गाना सूझता है– 'गड़िए में बचवा सबेर होइ जाई, ठाँवे-ठाँवे रोकबऽ अबेर होइ जाई'। कौन-सा अपराध गेय भी है और कौन-सा संज्ञेय ही है– काव्य-विवेक इस मामले में थाना-कचहरियों का रुखतकवा नहीं है– जाहिर है कि साहित्य के इस दर्प को जिलाए-जगाए रखने वाले जीव बलभद्र हैं। बलभद्र कवि होने की एक शर्त को विरह को स्वर देकर भी पूरा करते हैं और हर भारतीय, खासकर भोजपुरी कवि के मन-मुताबिक विरह की गेयता को सम्मान देते हैं– 'जालऽ कवना दो देस, देके जोगिनी के भेस, आहो अँखिए में कटि जाला रतिया नू हो...'। भोजपुरी प्रदेश में यह जाना,आम तौर पर, जिस पद्मावती के लिए है उसे पैसा कहते हैं– 'रेलिया ना बैरी, जहजवा ना बैरी, पइसवा बैरी ना...'(लोकगीत)। कहने की बात नहीं कि यह वह पइसवा नहीं है जिसे जोड़-तोड़ से 'बनाया' जाता है, वह है जिसे हाड़ तोड़ के 'कमाया' जाता है। जिसे जो कमाता है वही नहीं टूटता, जिसके लिए कमाता है वह भी टूटता है। उस टूटन के, उस टूटने के और टूट-टूटकर भी नहीं टूटने के गायन की जो अटूट परम्परा है, बलभद्र उसमें न सिर्फ शामिल होते हैं बल्कि 'जोगिनी' बन जाने के दावे के बजाय 'जोगिनी' का 'भेस' दे दिए जाने की शिकायत के साथ, इस हिदायत कि 'पीहऽ फूँकि-फूँकि पानी' के तत्काल बाद इस बरजने के साथ कि 'बिसरइहऽ जनि छान्ही' और 'ढाँपी अँचरा कि केस' से पति को, 'घरे ससुरु बेमार सास आँखे अलचार' से पति के भीतर के पुत्र को, 'एगो धउगल डोले एगो टापा-टोंइया डोले' से पति के भीतर के पिता को झकझोर देने के साथ, इस उलाहने के साथ कि 'फरके से छाँटेलऽ फुटनिया नू हो', इस हाल-बयान कि 'बखरे बेहाल बखरिया नू हो' इस समाधान के साथ भी कि 'दूनो हाथे बजिहें थपरिया नू हो' बलभद्र न तो कोई नई, न पुरानी कोई बात; न तो किसी नए, न पुराने किसी ढंग से कहते हैं, लेकिन नए को पुराना, पुराने को नया जरूर करते हैं, कुछ

'नया-पुरान' करते हैं– और इस तरह उनका अपनी परम्परा से लगना, लगना नहीं है केवल, अलगना भी है और अलगना अलग से अलगना नहीं है, लगकर ही अलगना है। इसी को शायद जिस तरह मैं बोलता हूँ उस तरह तेरा लिखना और फिर भी मुझसे अलग तेरा दिखना कहते हैं। इस छोटी-सी भूमिका के सहारे जो बात कहनी है वह यह है कि बलभद्र लोक-धुनों में उतरते हैं यह जितने महत्व का और जितना जरूरी है उतने ही महत्व का और उतना ही जरूरी है उनका उनसे उबरने की जरूरत को समझना और उनसे उबरना भी। इस तरह वे उन उबरे हुओं से भिन्न पड़ते हैं जो डूबे नहीं तो उन डूबे हुओं से भी भिन्न पड़ते हैं जो उबरे नहीं। जो कुछ लोक से जुड़ा है वह लोक से जुड़ा है महज इस नाते शिरोधार्य या स्वीकार्य या महज इसी नाते सिरभार या अस्वीकार्य बलभद्र को नहीं है। लोकविश्वास, लोकपरम्परा या लोकसाहित्य का इलाका उनके लिए कभी अविचारित रमण का नहीं रहा। बलभद्र की जितनी कोशिश उसके सार-सार को गहे रहने की, उससे कम नहीं उसके थोथा को उड़ाते रहने की भी। जिसे गहे रहना है सिर्फ वही इस लोक का नहीं है, जिसे उड़ाते रहना है वह भी है। वह लोक भी यही है जिसमें 'घरवा में कुहुँकेली कनिया-कुँआरी, हतिए-सा बतिया प लात-मुका-गारी', जिसमें 'बड़े-बड़े लोगवन से नेवता-हँकारी, बड़का कहावे के बड़की बेमारी'। उसी लोक के खिलाफ लोक- लाज की वेदी पर बलि हो-हो जाने वाली हर शिवपातो को बलभद्र का यह बेधड़क भड़काना है– "कहिया ई सत कामे आई/ कवना राहे?/कहँवा पूछ रहल बा केहू परलो-हरला/अइसन सत के लाते मारल/ढेर सुगम नइखे का बोलऽ–/कुफुर-कुफुर जियला-सियला से?" लेकिन यही लोक लोकगीतों के अपने शिल्प-विधान से 'नहीं कहने लायक' को नहीं ही कहने के साथ-साथ 'कहने लायक' को पुनि-पुनि कहने की तमीज देता है तो बलभद्र उसे दोनों हाथ सहेजते हैं– अपने कवि-कर्म के गुनगुने गीतकाल के गुजर चुकने के बहुत दिनों बाद भी, उसी उछाह से– "फाटत रजाई रहे, चलऽ ताग लिहलीं / बाबू के कमाई रहे, चलऽ ताग लिहलीं / कटिए जाई जाड़ा, चलऽ ताग लिहलीं/ कामे आई आड़ा-पाला, चलऽ ताग लिहलीं/ समा जाइब एकरा में, चलऽ ताग लिहलीं/ बाबू के बएखरा में, चलऽ ताग लिहलीं/ अपना

में आ तहरा में, चलऽ ताग लिहलीं/ दुनिया के ककहरा में, चलऽ ताग लिहलीं/ रुअवा घुसकत रहल, चलऽ ताग लिहलीं/ पुरवा सुसकत रहल, चलऽ ताग लिहलीं''। इस 'चलऽ ताग लिहलीं' में 'घुसकत रुअवा' वाली रजाई को एक और जाड़े से लड़ लेने लायक बना देने का जो संतोष है, जो सफाई है बूढ़ी-बेदम रजाई को मैदाने-जंग में एक बार और उतार देने के अपराध की, पिता की स्मृति से जोड़कर अभाव को भाव से भरे रखने की जो भारतीयता है, भोजपुरियत है और सबसे बढ़कर– आम आदमीयत है– वह किसी कवि को अगर लगता है कि बार-बार सुनने-सुनाने की बात है, तो जिसे कवित्व कहते हैं उसकी शुरुआत इसी लगने से हो जाती है, और अपनी इस लागी लगन को वह औरों को भी लगा पाए, तो, अगर कहने दिया जाए, तो, कवित्व की पराकाष्ठा भी यही है।

तो कवित्व वगैरह को यहीं छोड़कर, चलते हैं, एक कथा सुनते हैं, बलभद्र की एक कविता की ही कही। एक रामकिसुन बो हैं। धान की रोपनी में लगी हैं। एक 'खउआइल' सुरुज महराज हैं– 'उझिलत घाम'। और तब, एक रामकिसुन हैं– 'बीया के बोझा पहुँचावत 'थकबक'। और खेत के पानी के हिलकोरे हैं, रामकिसुन और रामकिसुन बो दोनों प्राणियों के हाव-भाव एक-दूसरे तक पहुँचाने की कवायद में आर-मेंड़ से टकराते, कभी-कभी बीच ही में बिला भी जाते। दोनों की बात-बतकही और हँसी-मजाक से यही दोनों नहीं, 'बन्हाइल खेत आ समय'। देश और काल। फिर एक घटना, दुर्घटना कोटि की। अझुराह बँधी एक आँटी पर 'बो' की एक 'लगही' बात 'कि आँटिया बन्हले बाड़ऽ / कि अपना बहिनिया के जूड़ा!' और बदले की कार्रवाई में 'वो' का घुमाकर एक आँटी फेंकना 'धान रोपत अपना धनिया के ठीक पाछा'। और उसके छींटे से ''लदफदाइल रामकिसुन बो तकली तिरछे / एक नजर अपना थकबकाइल सवाँग के ओर / उलट-पलट के देखली आपन लूगा/सेयार भइल दूनो जाना के मन के फुर्ती''। इसके बाद, इस कथा के कहवइया कवि के मुताबिक, बधार के किसी दूसरे कोने से पुरवइया की लहर पर मधुर एक सुर के साथ दसियों सुर एकसुर होकर समूचे बधार का मन छूने लगे। काव्यशास्त्र में जिस चमत्कार की चर्चा की जाती है वह क्या यही नहीं है!

बलभद्र के कवित्व की सार्थकता ऐसे जानदार जीवन-प्रसंगों की पहचान में है, उनके भीतर के जादू को जान लेने में है और उनका कवि-कर्म ऐसे जीवन-प्रसंगों में जान डाल देने या उनके भीतर कोई जादू जगा देने जैसी किसी दावेदारी के अभाव से सार्थक है। वह सार्थक है इस जादू के जगने को ही नहीं, उसके थकने को भी लखते हुए, एक दूसरी कविता 'फेनु डँटइहें' में। उसमें भी एक रामकिसुन हैं। यही वाले रामकिसुन हैं वे भी। उन्हें भी एक 'लगही' बात सुनने को मिलती है, बड़े टोपरे वाले जंगी बाबू से, रामकिसुन का छोटा टोपरा जिनके लिए 'कठुली...झँटुली' है। जाहिर है कि इसकी प्रतिक्रिया और उस प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया से किसी जादू को नहीं जगना, मन की 'फुर्ती' को 'सेयार' नहीं होना, पुरवइया की लहर पर दसियों सुरों को एकसुर नहीं होना...। लेकिन, मिल-मिलाकर ये दोनों कविताएँ वैसे ही किसी जादू की जमीन बनाती हैं। बताना नहीं भूलता कवि इस वाली कविता में भी कि 'अड़ल बाड़न रामकिसुन/ मुँह प पानी के छोपा मारत'। और सबसे बढ़कर सुखकर तो यह है कि इस वाले उसी रामकिसुन के साथ भी रामकिसुन बो मौजूद हैं, उसी ठसक के साथ। इस लिहाज से, बलभद्र जगे जादू के ही गायक नहीं, जादू जागे इसके लिए भी उनका गायन है। अनायास नहीं है कि दुखियों के दुख को बाँटकर हलका करने की कोशिश उनके यहाँ कम से कम है, इस मामले में वे हल्ला बोलने वाला मिजाज रखते हैं, लेकिन उनके सुख को, वह चाहे जितना मामूली हो, चाहे जिस कोने-अँतरे चिपका हो, ढूँढ़ निकालने की, उसके बयान और बखान के तमाम काव्योपायों से उसे सवाया-ड्योढ़ा करते रहने की जैसी प्रतिबद्धता बलभद्र की काव्य-यात्रा में दिखती है उसके चलते उनके यहाँ काव्यवस्तु के रूप में वह वाली कदर मामूली मालूम होती 'बातों' की है, संवादों की, संदर्भों की, बर्तावों की है जो समकालीन कविता में, आमतौर पर, मामूली मान ली गई 'चीजों' की है। खास बात यह भी है कि जो मामूली बात है या मामूली की बात है वह असल में मामूली नहीं है, मामूली की बात नहीं है– यह जाहिर करने के लिए तूमार खड़ा करने जैसी कोई कोशिश बलभद्र के यहाँ नहीं है। उनके लिए, जो मामूली है वह असल में मामूली नहीं है इसलिए महत्व का है– सो नहीं, जो मामूली है वह मामूली है

इसलिए महत्व का है, ऐसा है कुछ। असल में, बातों को गहने का और कहने का जो तौर है बलभद्र का, वह इतना सहज-सा है, सरल-सा है कि विरल-सा है। इस सहज-सरल की तरफ भोजपुरी कविता का खिंचाव उसके कबीर-काल से भी पहले, गोरख-काल से ही है– 'सहजे रहिबा'। लेकिन यह सहज रहना कितना कठिन है इसका पता तब चलता है जब भोजपुरी कविता 'गोंसेया' की लाठी को 'मुरइया अस तोरबो' (गोरख पांडेय) जैसे बीहड़ संकल्प व्यक्त करती है। खुद बलभद्र के काव्यलोक का एक वाकया है कि बस की पिछली वाली सीट पर कब्जा जमाए, किसी मेला-नहान में बक्सर जा रही लड़कियाँ अपने जाने किस उल्लास में डूबी हुई हैं, उपरवँछ कर बह रहा है उनका उल्लास, जिसमें वे शामिल कर लेती हैं अपनी भउजी को, उनका घूघ-घेरा सरकाकर; आजी, चाची, माई, मउसी को भी और किसको नहीं– ''जतने ऊ रहली स बस में/ओ से तनिको कम ना सड़क प/ हाट-बाट के कतने कुल्हि लोग/ लय-लहार ई लोक लेत रहे लपकि-लपकि/ बस के सँगे उड़त धूर के जा के पार!'' इस लय-लहार, इस लूर-लच्छन से किसी रीझे, या खीझे की भी, जो सबसे सहज टिप्पणी हो सकती है इन लड़कियों के बारे में, वह यही कि 'हद बाड़ी स!' कवि की भी इससे अलग नहीं, यही है, यही सहज-सी टिप्पणी– 'हद बाड़ी स! लेकिन यह सहज-सी क्या इतनी ही सहज है– ''हद बा/ अतना रोक-टोक के बादो/गा-बजा रहल बाड़ी स/अतना गवला-बजवला के बादो/ रोक-टोक में बाड़ी स/हद बाड़ी स!'' तो, जो गाने-बजाने में हैं, रोक-टोक के बावजूद; जो रोक-टोक में हैं, गाने-बजाने के बावजूद – वो तो वो लड़कियाँ हैं, कवि की अपनी रचना इसमें क्या है? इसी तरह एक कविता 'धत्त मरदे' है। किसी सफर में एक चेहरा दिखता है, जाना-पहचाना-सा, लेकिन वह जान-पहचान मन में कोई आकार नहीं ले पाती, बेचैनी होती है और बढ़ती जाती है और फिर 'कइसे दो भइल का दो' 'कि हिले लागल हमरा भीतर बनावटी दूगो दाँत/हिलत दूगो दाँत सँगे गोल-गोल चेहरा'। लेकिन इससे काम चलता नहीं, बल्कि बेचैनी और बढ़ जाती है, क्योंकि इतने से पता-ठिकाना कुछ उचरा नहीं और फिर 'कइसे दो भइल का दो' कि न सिर्फ ऋषिमुनी लाल याद आ गए, उनकी दुकान, महथिन देई का मंदिर, उनका कथा-कहानी सुनाना भी और

'उनुका के उसुकावत' शशिकांत तिवारी भी याद आ गए। तो याद नहीं आए तो ऋषीमुनी लाल, याद आए तो ऋषिमुनी लाल और उनके साथ लगे घलुए में चले आए तो शशिकांत तिवारी, इसमें कवि का क्या, उसे तो यह भी नहीं पता कि कैसे हुआ, क्या हुआ– 'पता ना कइसे दो भइल का दो'। जो हुआ, होता चला गया उसे वह कहता गया केवल और उतना ही भर, अपनी तरफ से तो यह रच भी नहीं पाया कि 'कइसे भइल', 'का भइल'। तो लगता तो यही है कि जिसे रचनात्मकता कहते हैं, या कहते होंगे, वह बलभद्र के यहाँ बहुत है नहीं शायद। अपनी कविताओं में, कम से कम दिखते तो नहीं वे कुछ रचते हुए, कुछ को कुछ में बदलते हुए, वास्तव को कुछ पसारते हुए, कुछ समेटते हुए। वे तो बल्कि कोई कविता करते हुए भी नहीं लगते, एक बार के अपने एक फेरे में पड़ने की एक बात भर बताते लगते हैं– 'धत्त मरदे! हमरा के फेरा में डललऽ तू कतना।' कविताई की समाई अब इसमें चाहे जितनी हो पाई हो कि फेरे में पड़े अपने, उबरे भी अपने, लेकिन फेरे में डालने का आरोप भी और उससे उबारने का श्रेय भी ऋषिमुनी लाल के मत्थे। जो रचनात्मकता है वह 'करे कोई भरे कोई' के कथावत (की कहावत) से आगे 'करे कोई, भरे उसका भी जिसके चलते किया और जो हुआ सो हुआ' के काव्यत्व तक पहुँचने में है शायद। वह शायद जहाँ-तहाँ जिस-तिस के जैसे-तैसे बिखरे जीवन-प्रसंगों में से रचनात्मक जो हैं उन्हें चुन लेने में है, चुन देने में है। शायद, लेकिन उस बेचैनी में तो वह, तय है कि है ही है जो इस कविता में, संप्रति, रूप को नाम देने की बेचैनी है, जो किसी को, जैसे ऋषिमुनी लाल को, जिनसे नातेदारी नहीं कोई, फिर भी, आधा-अधूरा नहीं, पूरा-पूरा, समूचा पा लेने के लिए है, उन्हें 'सोगहग' पाने के लिए है। कवि जो मेला-नहान मे जाती लड़कियों की लय-लहर को हमारे भीतर जगा देता है, कवि जो 'सोगहग' पाने की अपनी बेचैनी को हमारे भीतर उगा देता है वही कवि का किया है, वही 'उसकी' रचना है, वही 'उसका' रचना है। 'वही' शायद नहीं कहना चाहिए, 'वह भी'।

लेकिन जो हलकानी है, बेचैनी है उसकी कोई एक ही किस्म तो है नहीं। एक कविता है, घर बनने के बारे में, जो बनता है बनते-बनते, पीढ़ियों के लगने से, जिसका ढहना भी बनने के पूरा होने के पहले से शुरू हो जाता है–

'जबकि लड़ते रहल सभे'। पहली किश्त में नींव पड़ती है, चारो बगल की दीवारें उठती हैं, अगली किश्त में माटी की भराई होती है और तब हलकानी की एक और ही किस्म सामने आती है– ''ओह भरित माटी प तब/मन मना देले रहे लउका, नेनुआ, खीरा, ककरी/जवना के बाँट-बेवहार में/ गोतिया-पटिदार के ओरहन-उतार में/ कम हलकान ना रहली ईया...''। अगली किश्त में छत पड़ी और अगली की अगली वाली किश्त में बाकी की छत भी पड़ गई तो बेचैनी की एक और किस्म सामने आई– ''ओह साल अदरा में/एगो खुशी बीच खुरपी उठवले बेचैन रही ईया/ लउका, नेनुआ, खीरा, ककरी खातिर/ फरियावे के परल उनका नया-नया जगह''। पता नहीं यह कविता घर के बारे में है, कि बाबा के, कि बाबू दोनो भाई के, कि ईया के, कि लउका-नेनुआ-खीरा के बारे में, कि सावंग के, कि पाराकाबू के, कि ईया की ही नहीं और-और की भी और-और बेचैनियों के बारे में भी। बेचैनी की बात, एक दूसरी कविता में यह आती है कि खँचिया में कदम, करमी, तोंत या बइर-बनबइर लेकर बाजार में शामिल एक औरत बोलकर नहीं बुलाती किसी को अपना सौदा खरीदने के लिए, न बोलती है खँचिया में से किसी के एकाध कदम-करमी निकाल लेने पर भी। लेकिन बेचैन कर देने वाली इससे भी बड़ी बात जो है, यह है कि वह बाजार में होती है तो लगता है कि 'है', लेकिन नहीं होती तो नहीं लगता है कि 'नहीं है'। मुक्तिबोध की एक कविता में है कि 'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई कहीं...', बलभद्र की यह कविता निःशब्द एक पुकार को खोने न देने की एक और कोशिश से बनी है। बेशक, जो कविता एकदम से, अलग से एक कविता होती होगी वह भी कविता होती होगी लेकिन बलभद्र की कविताएँ अक्सर किसी-न-किसी कविता से लगी-बझी मिलती हैं, कहीं कुछ जोड़ती हुईं, कहीं से कुछ जुड़ती हुईं, किसी के छोड़े हुए को भरती हुईं, किसी के भरने के लिए छोड़ती हुईं। ज्ञानेन्द्रपति 'ट्राम में एक याद' में चेतना पारीक के होने में उसके होने को जितना महसूस करते हैं, उससे कहीं ज्यादा, उससे कम तो कतई नहीं, उसके नहीं होने में उसके नहीं होने को– ''...महानगर के महाट्टहास में एक हँसी कम है/ विराट धक-धक में एक धड़कन कम है / कोरस में एक कंठ कम है / तुम्हारे दो तलवे जितनी जगह

लेते हैं उतनी जगह खाली है / वहाँ उगी है घास वहाँ चुई है ओस वहाँ किसी ने निगाह तक नहीं डाली है''। बलभद्र की कविता लेकिन, नहीं होने में नहीं होने के इस अहसास के नहीं होने के अखरने से बनी है। और भले किसी को अखरे, अगर मिलता है तो नागार्जुन के सुर से सुर मिलाकर, ताल ठोंकंकर वे ताल से ताल मिलाते हैं– ''लहरा मारत गेहुम हरियर-हरियर/सींक न सँसरे अइसन सकसल/झूमत सरसो झमकत अलसी/देखलीं अबकी...''। और इस तरह वे कविता के लिए मूलघ्न किस्म की मौलिकता को, जड़ और जड़हीन होने को, नानापुराण निगमागम असम्मत होने को, क्वचिदन्यतोपि से परहेज वाली पंडिताई को— दरकिनार किए रखते हैं।

लेकिन, जिन्हें दरकिनार नहीं कर पाते बलभद्र ऐसी बातें बहुतेरी हैं। बहु–तेरीमेरी हैं। उन्हीं से उनकी कविताएँ बनी हैं। जैसे– घर से भोर की तरह निकलना लेकिन लौट नहीं पाना वैसे जैसे लौटती है साँझ। जैसे– जीतना 'तनी-तनी' और हारना 'ढेर-ढेर', फिर भी मेरा-तेरा-उसका रोज एक महासमर ठानना। जैसे– हल खड़ा करके पेशाब करके बधार में एक नजर दौड़ाकर माथे से गमछे को खोलकर गमछे से पसीना पोंछकर खैनी बनाकर खैनी जमाकर माथे से गमछा बाँधकर बैलों को टिटकारते ही माथे पर आग उगलते सूरज का लजा जाना। जैसे– लाल ठोर वाली चिरईं का गुदगुद गुलाबी दिन के आगम को अपने घर से बाहर निकलकर बाँच लेना और आदमी का अपने आदमी होने का धूर्त्त, मगर मीठा-सा एक लाभ लेते हुए घर में घुकुड़े-घुकुड़े ही उसके बाँचे हुए को भाँप लेना। जैसे– आम के अपने ही बगीचे में, पके एक आम का टपकना सुन दौड़ पड़ने से अपने को रोक न पाना, जबकि 'दउर के लूटे वाला ना रहे केहू अउर'। जैसे– माँ का; दिनभर के, दुनिया भर के दुख को सिरहाने सहेजकर सो लेना। जैसे– 'किसान–जैसा' के मतलब का 'अपने तुक-ताल में परेशान जैसा' होना और देश की राजधानी के कुल मतलब को 'माई खातिर बंडल भर बीड़ी' में और 'बाबू के जाड़ के अलम एगो हलुक-पातर कम्मर' में, 'महिनवा दिने' के 'हजार-बारह सौ रुपया में', 'ना' प के 'हँ' में सिमट जाना, कि तो, विराट हो जाना। जैसे– झूला झूलती बेटियों की कुहनी से आकाश का चिहुँक जाना। जैसे– एक का दूसरे से दूसरी तरह का होना ही

नहीं, कुछ लोगों का कुछ लोगों से कुछ और तरह का होना भी। जैसे– माँ के ठेहुने के दर्द की याद का दौनी के 'मेंह घेरवटत मुँह जाबल महादेव' की याद से जुड़ जाना। जैसे– इज्जत के बरोह को बाँध कर रखने की कोशिश में भीतर की आग का, पानी का हर लिया जाना। जैसे– जबड़े से निकलकर दर्द से मुक्ति दिलाने वाल एक दाँत के उपहार को लेकर मैदानी एक नदी के बेटे का उसकी बहन पहाड़ी एक नदी तक पहुँचना। जैसे– छँहाने वालों की रोज-ब-रोज बढ़ती गैरहाजिरी से तीन महुओं के एकमेक-से पेड़ की छाँह की छाती में भारी उदासी और भारी पड़ना उस उदासी का पेड़ पर ही नहीं चरवाह पर, हरवाह पर, बेंग पर, बकुला पर। जैसे जीविका-जुगाड़ में परदेस के सफर में एक बार और निकले फलाने की, एक बार और दियरखा पर छूटी चुनौटी के साथ मन का भी और एक बार छूट आना। जैसे– 'माई जगा ली, खिया ली, पिया ली/बाबू तजबिजिहें, टो लीहें पेट' के भरोसे आज भी, जिन्दगी के अनाथ और टूअर वाले हिस्से में भी निफिक्किर सो सकने के सपने का जगा होना। और, जैसे– बँसखट। और जैसे– और-और...।

ये बातें बतियाने में, बातों-बातों में आ गई बातें हैं। इनमें, बहुत संभव है कि आ गई बातें ही न हों, ला दी गई बातें भी हों।जो भी हो, कविता की कला के नाम पर बलभद्र के पास जो सबसे बढ़कर वह बतियाना है। हालाँकि यह भी उनकी खास अपनी कोई उपलब्धि नहीं है, अपनी माँ से उन्हें विरासत में मिली है। कहीं से बोल-बतिया सकने वाली माँ से 'ऊ रसोईघर से बोल सकेली/बोल सकेली भंडारघर से/आँगन-दुआर/ कवनो कोना-अँतरा से बोल सकेली/ ऊ जहँवा से बोलस, चाहे जवना तरे/भाषा में उनुका ना परेला कवनो खास फरक/बोलेली त जरूरियो ई नइखे/कि लग्गे उनुका होखबे करे केहू''। किसी से बोल-बतिया सकने वाली माँ से–''ऊ बतिया लेली चूल्हा से/ तावा-चउकी-बेलन से बतिया लेली भरपेट/ सूप से चलनी से/ बहुत फरिछ भाषा में बतिया लेली झाड़ू से/ अनाज के बोरा आ फाटल-पुरान झोरा से/बरिस-बरिस के ई अरजन ह उनकर आपन/उनकर बोलल-बतियावल/कबो लड़ला अस लागेला/ कबो गीत कवनो गवला अस''। उस माँ से, अपनेपन को जीने जैसा था जिसका बोलना-डोलना। यही वजह है शायद कि किसी को, कुछ भी को;

किसी के, कुछ भी के बारे में कुछ बताने-जैसा नहीं है बलभद्र के यहाँ, बतियाने जैसा है। कविता की कला के नाम पर उनके पास जो सबसे बढ़कर वह यही– बतियाना, इस बतियाने को जरा करीने से रख लेना, ताल-तुक में धर लेना– ले-देकर यही उनकी काव्य-कला। यही वजह है शायद कि अतिरिक्त को उनकी कविताओं में अक्सर कोई जगह नहीं मिल पाती। बलभद्र को असल में, यह लगता है कि इस लोकतंत्र में जब कोई 'सिस्टम सलूकत' है नहीं 'साबुत एगो आदमी के हक में' तो 'कहऽ भाई सीताराम/उठऽ भाई राजाराम/ कब ले सउनाए के एही घोर-माठा में/ बोलऽ भाई गंगाराम/ बिना बोलले–बतियवले कठिन बा जिनिगी/दीन दुनिया।' उन्हें लगता है कि कोई अपनी कुछ कहता है आपसे, तो अपने कहने में भले आपको आपकी अपनी नहीं कहने देता लेकिन उसके आपसे अपनी कहने से, आपके उससे उसकी अपनी सुनने से उसके 'लिलार' की फिकिर-रेखा कुछ मंद पड़ती है, सुस्ताने-सी लगती है और तब आप पाते हैं कि "सितिआइल धान के फूल अस/ मन के रोआँ-रोआँ में लागल-लपटाइल/ऊ बात-बतकही/ ऊ बतासा ऊ पानी/ हमरा प आपन जियवले बा दावा"।

ऐसी ही प्राप्तियों के बूते अपनेपन के ऐसे ही जीते-जागते दावे के साथ बलभद्र जब इसी-इसी तरह 'चढ़ते जाड़े' से 'आपन' ओटते हैं; अपनी, अपनों वाली कहते हैं, सामने वाले को कोई मौका दिए बगैर, तो कालिदास का यक्ष गोया एक बदले रंग-रस में प्रत्यक्ष हो जाता है– "ए भाई जाड़!/आवहीं के बा तहरा–/नइखे ए में दू राय/बाकिर का, कि तनी रुकि के आवऽ/जल्दी जनि मचावऽ/ मुँह के लाली राखऽ/ देखऽ, पूरा अबहीं फूटल नइखन स धान/बाल कुल्हि नइखन स आइल बहरी/एकनी के तनी मोका द/ फूटे के/ गँवे-गँवे झुके के/दूध के चाउर में बदले के/हँ, आवऽ, बाकी हहास बान्हि के ना/ डेगा डेगी आवऽ/ रात में शीत/ दिन में घाम अस/ए भाई जाड़!" और फिर इस 'पूर्वमेघ' के बाद 'उत्तरमेघ' भी, उतरते जाड़े से भी अपनेपन के उसी अधिकार के साथ कि 'ए भाई जाड़ / आइल बाड़ऽ त रहऽ अबहीं/रहऽ अउरो कुछ दिन / हँ, अपना के सिकोर के तनी राखऽ/जा मत जल्दी/देखऽ गेहूँ-जौ के बाल/ मद्धिम हवा में झूमत पाहि के पाहि / बाड़न स अबहीं काँच-कोमल/दाना

अबहीं नइखन स सुतरल/कवनो-कवनो में पिच्च से निकलि आवत बा दूध/ जो आपन समेट लेबऽ बोरिया-बिस्तर/ हो जाई भारी जुलुम/दाना ना हो पइहन स पोठ/ गरमी आ हा-हा से बचावऽ/तनी रुकऽ/साँझ-सबेरे चद्दर/ रात में हलुक-पातर कम्मर अस रुकऽ/ ए भाई जाड़!''

इस कविता को, इसके दोनो हिस्सों को, उद्धृत करते हुए बहुत चाहकर भी बीच में कहीं रुकना नहीं हो पाया तो इसका दोष या श्रेय– जो भी हो– इस कविता को ही नहीं, इसके कवि को ही नहीं, कालिदास को भी। कालिदास को, एक इसी कविता के लिए नहीं, इस गोत्र की तमाम कविताओं के लिए– ''खटी कतना नीन-मातल लोग / तनिकी बिलम जा पछुआ /... का बिगड़ि जाई जे गाड़ी छूटि जाई / मत जगावऽ, काँच निनिया टूट जाई / बड़ा मुश्किल से जुटल संजोग / तनिकी बिलम जा पछुआ (अशोक द्विवेदी)। लेकिन कालिदास के बिना भी, भय है कि बलभद्र की 'कब कहलीं हम'– जैसी कविताओं को भी उद्धृत करने का खतरा उठाएँ तो भी यही होना है, पूरी कविता को उठ आना है। खेतों-खलिहानों से सुग्गों के, गौरैयों, पंडुकों, बगुलों, नीलकंठों, नीलगायों, सियारों, डोंड़हों, केंचुओं, घोंघों, केंकड़ों, तितलियों के गायब होते जाने और फसलों पर मल्टी नेशनल घास के काबिज होते जाने से घबराया और इस अखिल भारतीय अपराध में अपनी संलिप्तता के अहसास से तिलमिलाया एक कवि-किसान जब किसी कठघरे में खड़ा कर दिया गया-सा एक लंबी सफाई देता है, बाप-दादे की दुहाई के साथ, कि उसने नहीं कहा सुग्गों से, गौरैयों से, पंडुकों से, बगुलों से, नीलकंठों से, नीलगायों से, सियारों से, डोंड़हों से, केंचुओं से, घोंघों से, केकड़ों से, तितलियों से कि मत मारें जोन्हरी-जनेरा पर चोंच, मत फुदकें धान की पकी-झुकी बालियों पर, मत फटकें खेत के आरी-कगरी, मत सुस्ताएँ खेतों में, मत करें साँझ होते ही हुआँ-हुआँ, मत बैठें मेड़ पर, कि निकल जाएँ खेतों-खलिहानों से बाहर...कि उसने नहीं कहा मल्टी नेशनल घास से कि आओ ढँक लो हमारे खेतों को, पसर जाओ हमारी फसलों पर, कि मुल्क की छाती पर जमो और राज करो...– तो संताप और ताप की एक लहर-सी उठती है। शोक और क्रोध के, पछतावे और प्रतिरोध के, समकालीन कविता में दुर्लभप्राय हो चले इस प्रतापी स्वर के

शान्त होते ही गोया एक सन्नाटा-सा छा जाता है– 'खामोश/सब खामोश/ मनसबदार/ शाइर और सूफी/ अलगजाली, इब्ने सिन्ना, अलबरूनी/आलिमो फाजिल सिपहसलार सब सरदार हैं खामोश...' (मुक्तिबोध, भूल-गलती)।

एक सुख है, पोर-पोर दुख के बावजूद, इस स्वर के प्रताप और उसके चुप कर देने वाले इस प्रभाव में; लेकिन, बलभद्र लख पाते हैं और लिख पाते हैं कि सुख एक पिता के अपने ही बेटे से चुपचाप पराजित हो जाने में भी कम नहीं है। बेटा पूरे मनोयोग से पाँकी हींड़ रहा है, पिता मारते-डाँटते नहीं, मना भी नहीं करते, बस कहते हैं कि 'निकलऽ निकलऽ / जा मम्मी से धोआ ल/ जा धोआ ल ईया से'। बेटा निकला तो, कुछ कहा तो उसने भी नहीं, रोया जरूर और इस भरोसे के साथ कि पिता के इस टोकने पर वह फतह पाएगा, कि दौड़ी आएगी मम्मी, दौड़ी आएगी ईया और उसे इस लेटाई-लिथड़ी हालत में ही गोद में उठाकर करारा जवाब देंगी इस दूर-दूर से सफाई सिखाते बाप को। और ''सच्चो/अखंड रहल ओकर विश्वास/अभियान ओकर सफल रहल/ ईया के कोरा से कनखिए प/ मुसकातो रहे मने-मने देख-देख हमरा के/ बता के हमार औकात''। पुत्र से चुपचाप पराजित इस पिता के सुख की सिहरन के आस ही पास है पिता के चुपचाप से पराजित एक पुत्र के कलेजे की कँपकँपाहट भी। इस संदर्भ में जिस कविता का संदर्भ देना है उस कविता के संदर्भ में एक दूसरी कविता है जो चाहती है कि उसे अन्त से पढ़ा जाए, धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा जाए और वहाँ पहुँचा जाए 'जहाँ से शुरू बा'। बलभद्र की यह अकेली कविता है जो कहती है कि वह कविता है, अतिरिक्त से इतनी रिक्त यह कविता है शायद, कि कविता है यह, इसे कहना पड़ता है। पिता के जिस–जैसे जीवन की यह कविता है, उस जीवन के अंत से ग्रस्त इस कविता का अंत ही अंत में हो यह असह होकर कविता में शुरू से अंत तक के बजाय अंत से शुरू तक जाने की चाह बन गया है जैसे। यह वह पिता है जो नौकरी से आता है तो बाहर-ही-बाहर फगुआ गाने बैठ जाता है, हाथ को ही झाल बना लेने उसे आता है। किसी को ढूँढ़ना हो उसे तो 'जहाँ गूँजत होई हँसी-ठहाका/पक्का बा कि होइहें ऊ ओहिजे'। मन उसका ऐसा परिवारी कि परिवार के सवांग-जैसे बैलों के नाद में हाथ डाले बिना मुँह में पानी नहीं डालता। बाल-बुतरुओं का

ऐसा हमजोली कि खामखा उनकी रजाई में घुसकर उनसे पंगा लेते रहने का रसिया। और फिर एक दूसरी कविता शुरू होती है, इसमें पिता सर्वनामी 'तू, तहार' में नहीं हैं, 'चाचा' हैं, यही उनकी संज्ञा है। कविता उनसे मुखातिब नहीं है, किसी से मुखातिब नहीं है, कविता उनके बारे में है भी नहीं, बैलों के बारे में है, 'सात पुहुत के उखड़ गइल खूँटा'– यह कविता है। दरवाजे के अन्तिम बचे बैल भी बिक गए, कुछ दिन उदास रहा दरवाजा, इस उदासी को भी सम्बल था एक 'कि अतना जोतइलो के बाद निकल गइल दाम'। खत्म हुआ बैल के बिकने का प्रकरण लेकिन नहीं, एक बार और आ गया, थोड़ा पहले से, तब से जब 'गहँकी अइले स/ तय भइल दाम/ धरा देल गइल पगहा/पगहा धरावत/दाम धरत/ माथ प गमछा धइल ना परल भोर'। और बात खत्म। लेकिन नहीं खत्म शायद। ऐसे जैसे बैलों के बिक जाने के इस तकलीफदेह प्रकरण की तरफ बार-बार मुड़ जाते मन को मात्र फेरने के लिए बात को किसी और ओर घुमा दिया जाता है और कुछ योंही -योंही चाचा की चर्चा चल पड़ती है। रिटायर होने के पहले से, रिटायर होने के बाद ड्यूटी-छुट्टी के बिना किसी दंद-फंद के अपने गाँव में अपने मनमान रहने, मनमान खेत-बधार घूमने के अपने सपने सजाते-सुनाते चाचा की चर्चा। फिर थोड़ी-बहुत सूचनाएँ, घर-बँटवारे की, चूल्हा-चौका फरियाने की, चाचा के चुप-चुप-से रहने लगने की। सुबह के स्वास्थ्यवर्धक टहलान के कभी 'अन्हारे' कभी 'दुपहरिए' शुरू हो जाने की। चाय से चाय के स्वाद के सरकते जाने की। 'माई से बतियावें/ बाकिर बात ना कवनो बात जइसन'। 'ना बइठ पावें कबो असथिर/ना टिके पावें कवनो बात पर'। 'बल देके कहल चाहें कवनो बात/ आ पूरा ना कहि पावें'। कोई कहे कि बँटवारा है इस सबके पीछे तो मत कहे। 'बँटवारा के लेके' खुद भी 'कबो कवनो गंभीर बात ना कहले चाचा'। और खैर, बात तो असल में बैलों की थी। 'गँहकी जब हँकले स बैलन के/बैल हुमचले स एक बेर/ नाद देने, भरजोर/एह दुआर पर/बैलन के ई आखिरी जोड़ी रहल/ ई आखिरी हुमाच'। और फिर एक बात और, यों ही, आखिरी एक रुलाई की और आखिरी एक हुमास की कि 'बेमारी के हालत में/फोन पर चाचा/ कहले अपना भइया से/कि आवल चाहत बानी तहरा भीरी/आ रोवे लगले/...ई उनकर

आखिरी रोआई रहल/ ई आखिरी हुमास...।'

सामने एक स्तब्ध, स्तब्ध कर देने वाला अंधकार था जिसे भेदने की एक कोशिश सरोज-स्मृति थी। कविता की ऐसी ही कोशिशों में से एक यह भी है। एक और इस संकलन में 'माई के नाँवे' नाम से है। यह एक ऐसी कविता है जो चाहती है कि उसे चिट्ठी मानकर कुबूल किया जाए। इस कविता के कविता रह जाने से, भय है कि कवि अपने ही शब्दों की घेरेबन्दी में घिरा न रह जाए। वैसे, उसे, इस चिट्ठी के लिखे जाने तक 'बरिस भर दूर हो गई' माई के ठेकुआ-खजूर के अपने भीतर अब तक बचे स्वाद का सम्बल है। सम्बल है मउसी का और बुचिया का जिन्होंने लिखी थीं माँ को चिट्ठियाँ, जिनके खोंइछा में शब्दकर्मी इस पुत्र को प्रतिपल पछाड़ता, उसका पीछा नहीं छोड़ता यह पछतावा नहीं है कि "कतने हाली मौसम बदललस आपन मन/कोइलर आपन बोली/ तहरा कथावाली सोनचिरइया अइली-गइली– कतने हाली/कहँवा कहँवा ना रहलीं/केने-केने ना छिछिअइलीं/ तबो ना लिखलीं एको चिट्ठी/तहरा नाँवें/ बकुलवा टाँग आखर में–/ अपना नाँव भर सकाँव वाली ए माई...!"

माई ही बलभद्र की कविताई के मूल में, डाढ़-पात-फल-फूल में। इसी के बल-बूते कविता में वे कुछ कहते ही नहीं, यहाँ तक कह पाते हैं कि 'हम त अंतकथा लिखवइया...'।

तो यही कहना था। हालाँकि इतना-इतना नहीं कहना था, और इतना ही नहीं कहना था। दरअसल कवि का जो कहना उसे तो कविता में पढ़िए, सुन लीजिए, लेकिन कविता का जो कहना उसे पढ़ते रहिए, सुनते रहिए।

प्रकाश उदय

क्रम

भलहीं जे रहबो कुजतिया	25
रावल मुनिया	26
अबेर होइ जाई	27
कवने गुमाने	29
घरी छने आवे जे बिजुरिया	30
गम काथी के बा	31
नाहीं सुनले सुनाला	32
खत अगिला में शेष	33
मन में पुकार लेले	35
दिल्ली	37
जियवले बा दावा	38
मधुर राग में	40
उछाह से	42
लजा गइलें	44
जहाँ से शुरू बा	45
जा रहल बा लोग, अबकियो	47
आजो	49
अपनापन एगो जियला अस	51
हद बाड़ी स!	54
धत्त मरदे!	56
हारे के ढेर-ढेर	58

सृजन के ताप बटोरत 59
चलऽ ताग लिहलीं 60
काका के गइला के बाद 61
भाँप गइल 63
धीरज धराइल ना 64
फेनु डँटइहें 65
के पतियाई 69
जाड़ा से 70
कुछ लोग 72
माई के नाँवे 74
शिवपातो से 76
सफर के खूँट में 78
बता के हमार औकात 81
बँसखट 83
कबले सउनाए के 85
खुश होइहऽ 88
तेजले तेजाइल ना! 89
जबकि लड़ते रहल सभे 91
अबकी 95
तीन महुआ 96
उसरी नदी से 99
पूछे के रहे 101
देस के माटी-पानी से बनल 103
ई सोचि के 105
आ बाबा चुप त चुप 107
सात पुहुत के उखड़ गइल खूँटा 110
काहे खातिर 113
कब कहलीं हम 114

भलहीं जे रहबो कुजतिया

भलहीं जे रहबो कुजतिया
ना ढोअले ढोआला इजतिया

लइका सेयान सभे भाँजे लउरिया
कातिक असाढ़ तानि सुते दुपहरिया
असकत के भरल मोटरिया
ना ढोअले ढोआला इजतिया

लाम-चाकर अतना कि आँटे ना बतिया
आँखि जाए जहँवा ले बाटे बिगहटिया
नवले नवे ना फुटनिया
ना ढोअले ढोआला इजतिया

घरवा में कुहुकेली कनिया–कुँआरी
हतिएसा बतिया प लात-मुका-गारी
देखत झवान भइल मतिया
ना ढोअले ढोआला इजतिया

बड़े-बड़े लोगवा से नेवता हँकारी
बड़का कहाए के बड़की बेमारी
जतिए भइल जहमतिया
ना ढोअले ढोआला इजतिया